

दिव्यामृत पोर्ट

वर्ष : 5, अंक : 48

(प्रति बुधवार), इन्दौर, 22 जुलाई से 28 जुलाई 2020

पेज : 8 कीमत : 3 रुपये

वैज्ञानिकों ने खोजी बीटल लार्वा की एक नई प्रजाति जो प्लास्टिक का कर सकती है सफाया

दुनिया भर में प्लास्टिक कचरा तेजी से बढ़ रहा है। आज हम अपने चारों ओर ऐसी अनेक चीजों को देख सकते हैं जो प्लास्टिक की बनी होती हैं। इसने इंसान का जीवन आसान कर दिया है। पर इसके साथ एक बड़ी समस्या है इसका लम्बे समय तक वातावरण में मौजूद रहना, इस नष्ट होने में कई साल लग जाते हैं। प्लास्टिक बैग्स को नष्ट होने में करीब 10 से 20 साल लगते हैं। जबकि नायलॉन से बनी वस्तुओं और नष्ट हो सकने वाली स्ट्रॉ को 30 से 40 वर्ष लगते हैं। जबकि प्लास्टिक से बनी बोतलों जिन्हें एक बार उपयोग करके फेंक दिया जाता है उन्हें प्राकृतिक रूप से नष्ट होने में 500 वर्षों का समय लग जाता है। प्लास्टिक कचरा अपने आप में किसी आपदा कम नहीं है।

ऐसे में इससे होने वाला कचरा भी बढ़ता जाता है। जिसका एक जीता जागता नमूना द ग्रेट पैसिफिक गारेबे ऐच है। जोकि प्रशांत महासागर में तैरता 1.3 करोड़ टन प्लास्टिक कचरे का पहाड़ है। इसकी विशालता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि यह आकार में कोरियाई प्रायद्वीप से करीब 7 गुना बड़ा है।

9 फीसदी से भी कम प्लास्टिक कचरा किया गया था रिसाइकल

यदि प्लास्टिक कचरे से जुड़े आंकड़ों पर गौर करें तो 2017 में दुनिया भर में करीब 830 करोड़ टन प्लास्टिक कचरा उत्पन्न किया था। जिसमें से 9 फीसदी से भी कम रिसाइकल किया गया था। इसमें से करीब 6 फीसदी पॉलीस्टायरीन होता है, जिसका सबसे अधिक उपयोग पैकिंग और फोम से बने कॉफी कपों में होता है। इसकी मॉलिक्यूलर संरचना इतनी अलग



होती है कि यह असानी से नष्ट नहीं होता।

वैज्ञानिकों ने कोरिया में एक नई बीटल लार्वा की प्रजाति को खोज निकला है, जो प्लास्टिक का सफाया कर सकती है। इससे जुड़ी एक शोध पोहांग यूनिवर्सिटी ऑफ़ साइंस एंड टेक्नोलॉजी द्वारा किया गया है जोकि जर्नल एल्लाइड एंड एनवार्वर्मेंटल माइक्रोबायोलॉजी में प्रकाशित हुआ है। यह कीट वर्षपंखी कीट समूह (कोलिओप्टेरा) से सम्बन्ध रखता है। प्लेसीफॉर्स्फथल्मस डेविडिस नामक कीट का लार्वा पॉलीस्टायरीन को रिसाइकल करने में सक्षम है।

शोधकर्ताओं के अनुसार यह कीट कोरियाई प्रायद्वीप सहित पूर्वी एशिया के कई हिस्सों में पाया जाता है। यह कीट

पॉलीस्टायरीन को खत्म करने के साथ-साथ उसके मोलेक्युल्स को भी समाप्त कर सकता है। वैज्ञानिकों के अनुसार ऐसा इसकी आंत में मौजूद बैक्टीरिया सेराइटिया के कारण होता है।

यह कीट कैसे पॉलीस्टायरीन को सड़ा सकता है यह जानने के लिए वैज्ञानिकों ने लार्वा के शरीर में 2 हफ्तों तक पॉलीस्टायरीन को रखा जिससे पता चला कि इसके कारण उसकी आंत में मौजूद सेराइटिया में 6 गुना वृद्धि हो गई। इसकी लंबाई आंत माइक्रोबायोटा के करीब 33 फीसदी के बराबर थी। साथ ही शोध से यह भी पता चला है कि इस लार्वा के आंत्र माइक्रोबायोटा में मौजूद बैक्टीरिया बहुत ही सामान्य ब्रेणी के होते हैं जोकि

पॉलीस्टायरीन को पचा सकने वाले अन्य कीटों से बहुत अलग होते हैं।

अंधेरे में रहने वाले इस कीट की अनोखी खाकर को देखकर वैज्ञानिक इस बात की भी सम्भावना व्यक्त कर रहे हैं कि सड़ी लकड़ी में मिलने वाले अन्य कीड़े भी पॉलीस्टायरीन को पचा सकते हैं। इसके साथ ही वैज्ञानिकों का मानना है कि इस कीड़े के आंत में मिलने वाले बैक्टीरिया की मदद से पॉलीस्टायरीन को खत्म कर सकने वाले एक प्रभावी फ्लोरा को बनाया जा सकता है। जो इस प्लास्टिक कचरे को पूरी तरह से समाप्त कर सकता है। इस तरह से पॉलीस्टायरीन प्लास्टिक से होने वाले कचरे से पूरी तरह छुटकारा मिल सकता है।

जलवायु परिवर्तन के कारण सन 2100 तक ध्रुवीय भालू हो जाएंगे विलुप्त

जलवायु परिवर्तन ध्रुवीय भालूओं को भूख से मरने के लिए विवश कर रहा है, जिसके कारण इनकी संख्या विलुप्त होने के कगार पर पहुंच गई है। शोध में अनुमान लगाया गया है कि ये मांसाहारी जीव मानव जीवनकाल में ही गयब हो सकते हैं।

वैज्ञानिकों ने बताया है कि कुछ क्षेत्रों में वे पहले से ही भोजन की कमी से जूझ रहे हैं। समुद्री बर्फ का समय से पहले पिघलने से बर्फ लगातार कम हो रही है जिससे भालू सीलों का शिकार नहीं कर पा रहे हैं। यह शोध नेचर क्लाइमेट चेंज में प्रकाशित हुआ है।

ध्रुवीय भालू इंटरनेशनल के प्रमुख वैज्ञानिक स्टीवन एमस्ट्रुप ने कहा कि भालू बर्फ के जमने से पहले लंबे समय तक उपवास का सामना करते हैं और बर्फ जमने के बाद वे शिकार करने के लिए वापस लौटते हैं।

अध्ययन के विश्लेषण से पता चलता है कि 13

में से 12 ध्रुवीय भालू 80 वर्षों के भीतर आर्कटिक में तेजी से हो रहे परिवर्तन के कारण कम हो गए। आर्कटिक का तापमान दोगुनी गति से बढ़ रहा है।

एमस्ट्रुप ने बताया कि सन 2100 तक, कनाडा के आर्कटिक द्वीपसमूह में क्वीन एलिजाबेथ द्वीप की आबादी को छोड़कर, अन्य जगहों पर ध्रुवीय भालू का जन्म लेना लगभग असंभव हो जाएगा।

यह परिदृश्य पूर्व-औद्योगिक युग के तापमान से पृथकी की औसत सतह के तापमान को 3.3 डिग्री सेल्सियस बढ़ाता है। एक डिग्री तापमान बढ़ने से हीटवेक्स, सूखा और भवानक तृफानों में वृद्धि होती, जिससे समुद्रों का जल स्तर बढ़ेगा और यह अधिक विनाशकारी होगा।

यदि लोग पेरिस समझौते के लक्ष्यों से लगभग आधा डिग्री ऊपर 2.4 सेंटी ग्रेड पर वैश्विक तापमान को नियंत्रित करने में सक्षम हो जाते हैं, तो यह ध्रुवीय भालूओं के विलुप्त होने को बचा सकता है।

ध्रुवीय भालूओं के विलुप्त होने की समय सीमा

एमस्ट्रुप ने कहा यह वातावरण अभी भी बैसा ही है, जैसा कि एक लाख वर्षों के विकासवादी इतिहास के दौरान ध्रुवीय भालू को जिसका सामना करना पड़ रहा था। खतरा प्रति सेकंड बढ़ता तापमान नहीं है, बल्कि शिकारी अपने आपको इस तेजी से बदलते वातावरण में ढाल नहीं पा रहे हैं। अगर किसी तरह समुद्री बर्फ को बनाए रखा जाय और तापमान में वृद्धि हो भी जाय तो भी ध्रुवीय भालू आराम से रह सकते हैं।

समस्या यह है कि उनका निवास स्थान सचमुच पिघल रहा है। पृथकी के आधे भू-भाग वाले मेगाफ्यूना को विलुप्त होने के खतरे के रूप में वर्गीकृत किया गया है, लेकिन केवल ध्रुवीय भालू मुख्य रूप से जलवायु परिवर्तन के खतरे में हैं।

शोधकर्ताओं ने चतावनी देते हुए कहा है कि आने वाले दशकों में जलवायु अन्य जानवरों को भी प्रभावित करेगी। आज लगभग 25,000 ध्रुवीय भालू (उर्सिटिमस) बचे हैं।

टोरंटो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पीटर मोल्नर ने कहा अनुमान लगाया जाय कि ध्रुवीय भालू कितने पतले और कितने मोटे हो सकते हैं, वे किस तरह ऊर्जा का उपयोग करते हैं, इसकी मॉडलिंग करते हुए, हम उन दिनों की गणना कर सकते हैं।

एक नर भालू, जैसे-पश्चिम हड्सन की खाड़ी की आबादी में, जो शरीर के सामान्य वजन से 20 प्रतिशत तक कम वजन के हो सकते हैं। जब उपवास के दिन शुरू होते हैं, तो इनमें 200 दिनों के बाजाय 125 दिनों तक ही जीवित रहने के लिए ऊर्जा संग्रहीत होगी।



आक्रामक विदेशी प्रजातियां वैश्विक जैव विविधता के लिए नुकसानदायक

भारतीय बनस्पति सर्वेक्षण के द्वारा काफी समय पहले किए गए अध्ययन के अनुसार भारत में आक्रामक विदेशी पौधों की 173 प्रजातियों पर ध्यान केंद्रित किया गया था। इनमें सबसे खतरनाक आक्रामक प्रजातियां - अल्टरनेश्वरा फिलोसेराइड्स, कैसिया अनफ्लोरा, क्रोमोलाना एरोमाटा, इचोनिंआ क्रैसेप्स, लैंटाना कैमारा, पार्थेनियम हिस्टीरोपोपस, प्रोसोपिस जूलीफलोरा और अन्य शामिल हैं।

आक्रामक विदेशी (एलियन) प्रजातियों की आबदी में 20 से 30 फीसदी की वृद्धि होने से दुनिया भर में जैव विविधता को नुकसान होगा।

यह विधान विश्वविद्यालय के फांज एस्सल और बर्नड लेनजर के नेतृत्व में शोधकर्ताओं की एक अंतर्राष्ट्रीय टीम के एक अध्ययन का निष्कर्ष है। अध्ययन में यूरोप, उत्तर और दक्षिण अमेरिका, न्यूजीलैंड और दक्षिण अफ्रीका के 38 शोधकर्ता शामिल थे। लोगों की जानबूझकर या अनजाने में की गई गतिविधियों से दुनिया के नए क्षेत्रों में अधिक से अधिक पौधे और पशु प्रजातियां पहुंच रही हैं - जैसे - व्यापार या पर्यटन के माध्यम से यह हो रहा है। इन विदेशी प्रजातियों में से कुछ जैव विविधता और लोगों के लिए नुकसानदायक हो सकते हैं, उदाहरण के लिए देशी प्रजातियों को विस्थापित करने या बीमारियों को प्रसारित करने से। हालांकि, जबकि हमारे पास विदेशी प्रजातियों के ऐतिहासिक प्रसार पर अपेक्षकात अच्छी जानकारी है, लेकिन वे भविष्य में किस तरह विकास करेंगे, इसके बारे में अभी भी हम बहुत कम जानते हैं। यह अध्ययन ग्लोबल चेंज बायोलॉजी पत्रिका में प्रकाशित किया गया है।

फिलहाल कंप्यूटर मॉडल के आधार पर सटीक अनुमान लगाना संभव नहीं है, कि भविष्य में विदेशी प्रजातियों के फैलने और इनका प्रभाव कैसे बदलेगा। फांज एस्सल कहते हैं कि लोगों के द्वारा किए गए सर्वेक्षणों के आकलन से ही आने वाले दशकों में विदेशी प्रजातियों के फैलने और प्रभाव के कारणों और परिणामों की बहेतर समझ हो सकती है। अध्ययन से पता चलता है कि नई विदेशी प्रजातियों की संख्या में 20 से 30 प्रतिशत की वृद्धि बढ़े पैमाने पर वैश्विक जैव विविधता के नुकसान का कारण माना जाता है। इन प्रजातियों की संख्या का शिखर पर पहुंचने की आसंका है। मनुष्य विदेशी प्रजाति को फैलने के मुख्य माध्यम हैं। विशेषज्ञ तीन मुख्य कारणों के बारे में बताते हैं: मुख्य रूप से सामान का बढ़ता वैश्विक व्यापार, उसके बाद जलवायु परिवर्तन और फिर ऊर्जा की खपत और भूमि उपयोग जैसे आर्थिक विकास के प्रभाव भी इसमें शामिल हैं। अध्ययन से यह भी पता चलता है कि देशी प्रजातियों को बढ़ावा देने से विदेशी प्रजातियों के फैलने को काफी धीमा किया जा सकता है। शोधकर्ताओं ने दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों में विदेशी प्रजातियों की वृद्धि के प्रभाव की ओर अधिक जांच की- उदाहरण के लिए, पर्यटन उष्णकटिबंधीय और उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में जैविक आक्रमण का एक प्रमुख कारण है, जबकि जलवायु परिवर्तन भविष्य में विदेशी प्रजातियों के अस्तित्व और स्थापित करने का पक्षधर है, विशेष रूप से ध्रुवीय और समशीतोष्ण क्षेत्रों में। शोधकर्ताओं ने कहा कि हमारे अध्ययन से पता चलता है कि हम वर्तमान में विदेशी प्रजातियों के कारण भविष्य में पड़ने वाले प्रभावों को किसे तरह कम कर सकते हैं। परिणाम अंतर्राष्ट्रीय समझौतों के आगे के विकास के लिए एक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक आधार बनाते हैं जैसे कि सतत विकास लक्ष्य या जैविक विविधता पर सम्मेलन आदी। इस तरह हम वैश्विक जैव विविधता और हमारे समाज पर विदेशी प्रजातियों के खराब प्रभावों को कम करने में सफल हो सकते हैं।

क्यों बढ़ रही हैं उत्तराखण्ड में बादल फटने की घटनाएं?



बीते 8 अगस्त तक उत्तराखण्ड के लगभग सभी जिलों में सामान्य से कम बारिश दर्ज की गई थी। लेकिन, 8-9 की रात को ज्यादातर हिस्सों में तेज बारिश हुई और तीन जगहों पर बादल फटने की घटनाएं भी दर्ज की गई। इसके बाद 17 की रात से बादल फटने और भारी बारिश की खबरें आ रही हैं। इससे 14 लोगों की मौत और 17 लोगों के लापता हो चुके हैं। इससे पहले हुई घटना में 6 लोगों की मौत हुई थी और एक बच्ची अब तक लापता है। सबाल उठता है कि आखिर उत्तराखण्ड में बादल फटने की घटनाएं बार-बार क्यों हो रही हैं?

मौसम विज्ञान केंद्र देहरादून के निदेशक बिक्रम सिंह कहते हैं कि पिछले कुछ वर्षों के डाटा का आंकलन करने पर पता चलता है कि पूरे मानसून सीजन में बारिश तो एक समान रिकॉर्ड हो रही है लेकिन इस दौरान रेनी डे (किसी एक जगह, एक दिन में 2.5 मिलीमीटर या उससे अधिक बारिश रिकॉर्ड होती है, उसे रेनी डे कहते हैं) की संख्या में कमी आ रही है। यानी जो बारिश सात दिनों में होती थी, वो तीन दिन में ही हो जा रही है। जिससे स्थिति बिगड़ रही है। साथ ही जो मानसून सीजन जून से सितंबर तक एक समान होता था, वो अब जुलाई-अगस्त में सिकुड़ रहा है।

आपदा प्रबंधन विभाग के निदेशक पीयूष रौतेला के मुताबिक अत्यधिक भारी बारिश से सिर्फ उत्तराखण्ड ही नहीं हिमाचल प्रदेश और जम्मू कश्मीर को भी बहुत नुकसान होता है। वर्ष 2018 में भारी बारिश से उत्तराखण्ड में 58 से अधिक मौतें हुई थीं। वर्ष 2017 में मानसून सीजन में 84 लोगों की मौत हुई थी और 27 लोग लापता हो गए। एक हजार से अधिक मवेशियों की मौत हुई। 1602 आवासीय भवन क्षतिग्रस्त हुए। 1329 सड़कें टूट गईं और 1244 पुल-पुलिया और सुरंगों का नुकसान हुआ। इसी तरह वर्ष 2010, 2012 और 2016 में भी बादल फटने और भारी बारिश से राज्य में काफी नुकसान हुआ है।

मिजोरम विश्वविद्यालय में प्रोफेसर विश्वंभर प्रसाद सती ने उत्तराखण्ड में बादल फटने की घटना पर अपना शोध पत्र वर्ष 2018 में स्विटजरलैंड में पेश किया। उन्होंने वर्ष 2009 से 2014 के जून से अक्टूबर तक बारिश के आंकड़ों की पड़ताल की। इसी मौसम में बादल फटने की घटनाएं होती हैं। तथ्यों के आंकलन से उन्होंने पाया कि

इस दौरान बारिश में अत्यधिक उत्तर-चंद्राव आए हैं। बारिश में गिरावट भी दर्ज की गई है। हालांकि इस दौरान अपेक्षाकृत कम अवधि में बारिश की तीव्रता अधिक पायी गई, जो कि बादल फटने के बाबर है, जिससे प्राकृतिक आपादाएं आती हैं। उनके मुताबिक बारिश में अत्यधिक अनियमितता और जलवायु परिवर्तन की वजह से वर्षा की तीव्रता और फ्रीक्रॉसी दोनों बढ़ी हैं।

प्रोफेसर सती कहते हैं कि क्लाइमेट वैरिएबिलिटी पूरे हिमालयी क्षेत्र में बढ़ गई है। बारिश की तीव्रता भी बढ़ गई है। बारिश पॉकेट्स में हो रही है। किसी एक जगह बादल इकट्ठा होते हैं और अत्यधिक भारी वर्षा से बादल फटने जैसे हालात पैदा होते हैं। बारिश का सामान डिस्ट्रिब्यूशन नहीं है। अपने शोध के जूरिये वे बताते हैं कि मानसून का टोटल टाइम इयूरेशन यानी कुल अवधि भी घट गई है। इसके साथ ही गर्मियों में हीट वेव बढ़ने से घटियां और मध्यम ऊंचाई वाले क्षेत्रों में गर्मी बढ़ रही है। जिसका असर जलवायु में आ रहे बदलावों पर पड़ता है। प्रोफेसर सती का कहना है कि क्लाइमेट चेंज बाद में है, पहले क्लाइमेट वैरिएबिलिटी की समस्या बढ़ी हो गई है।

वाडिया इंस्टीट्यूट के जियो-फिजिक्स विभाग के अध्यक्ष डॉ सुशील कुमार कहते हैं कि निश्चित तौर पर बादल फटने की घटनाएं पिछले एक दशक में बढ़ी हैं। उत्तराखण्ड में पहले भी बादल फटते थे लेकिन वो दुर्गम इलाकों में किसी गांव में ऐसी इका-दुका घटनाएं होती थीं। जिससे नुकसान भी इतना अधिक नहीं होता था। लेकिन अब मल्टी क्लाउड बर्स्ट यानी बहुत सारे बादल एक साथ एक जगह पर फट रहे हैं। जिससे काफी नुकसान हो रहा है।

डॉ सुशील के मुताबिक टिहरी बांध के अस्तित्व में आने के बाद इस तरह की घटनाओं में खासतौर पर इजापा हुआ है। टिहरी में भागीरथी नदी पर करीब 260.5 मीटर ऊंचा बांध बना है। जिसका जलाशय करीब 4 क्यूबिक किलोमीटर का करीब 3,200,000 एकड़ फीट में फैला है, जिसका उपरी हिस्सा करीब 52 वर्ग किलोमीटर का है। जिस भागीरथी नदी का कैचमेंट एरिया (जलग्रहण क्षेत्र) पहले काफी कम था, बांध बनने के बाद वो बहुत अधिक हो गया। वाडिया इंस्टीट्यूट के वैज्ञानिक के मुताबिक इतनी बड़ी मात्रा में एक जगह पानी

इकट्ठा होने से बादल बनने की प्रक्रिया में अत्यधिक तेज़ी आई। मानसून सीजन में बादल इस पानी को संभाल नहीं पाते हैं और फट जाते हैं। पूरे उत्तराखण्ड में जल विद्युत परियोजनाएं चल रही हैं। नदी का प्राकृतिक बहाव रोकने से प्रकृति मुश्किल में आ गई है। इसलिए बादल फटने की घटनाओं में भी तेजी आई है।

हिमालयन पर्यावरण अध्ययन एवं संरक्षण संस्था के संस्थापक डॉ अनिल जोशी जो लगातार हिमालयी पर्यावरण का अध्ययन करते हैं, मानते हैं कि बादल फटने की घटनाओं में पिछले एक दशक में निश्चिततौर पर इजाफा हुआ है। पर्यावरणविद् अनिल जोशी का कहना है कि टिहरी बांध की विशाल झील से जो वाष्णीकरण होता है वो बरसात के मौसम में भारी बादल बनाता है। जिसका असर सिर्फ गढ़वाल पर ही नहीं कुमाऊं पर ही होता है। जिसका असर सिर्फ गढ़वाल पर ही नहीं कुमाऊं पर ही होता है। वे कहते हैं कि सरकार इसलिए भी बादल फटने की घटना से इंकार करती हैं क्योंकि उन्हें अभी काली नदी पर पंचेश्वर डैम बनाना है, जिसका आकार टिहरी झील से कई गुना बड़ा होगा। टिहरी झील बनाने के बाद पर्यावरण पर उसके प्रभाव का अध्ययन जरूरी हो जाता है।

उत्तराखण्ड में बादल फटने की पहली बड़ी घटना 1952 में सामने आई थी। जब पौड़ी जिले के दूधातोली क्षेत्र में हुई अतिवृष्टि से नयार नदी में अचानक बाढ़ आ गई थी। इस घटना में सतपुली कस्बे का अस्तित्व पूरी तरह से खत्म हो गया था। वहां खड़ी कई बसें बह गई थीं और कई लोगों को मौत हो गई थीं। 1954 में रुद्रप्रयाग जिले के डडुवा गांव में अतिवृष्टि के बाद भूस्खलन से पूरा गांव दब गया था। 1975 के बाद से लगभग हर साल इस तरह की घटनाएं होने लगीं और अब हर बरसात में 15 से 20 घटनाएं दर्ज की जा रही हैं।

उत्तराखण्ड वानिकी एवं औद्योगिकी विश्वविद्यालय के पर्यावरण विभाग के अध्यक्ष डॉ. एसपी सती इंटरगर्भनमेंट पैनल फॉर क्लाइमेट चेंज (आईपीसीसी) की रिपोर्ट का हवाला देते हैं। वे लगातार बढ़ रही अतिवृष्टि की घटनाओं को ग्लोबल वार्मिंग के कारण होने वाले क्लाइमेट चेंज का असर मानते हैं। सती कहते हैं कि अब एक साथ सूखा और अतिवृष्टि का सामना करना पड़ रहा है। वर्ष में ज्यादातर समय सूखे की स्थिति बनी रहती है और कुछ दिन के भीतर इतनी बारिश आ जाती है कि जनधन का भारी नुकसान उठाना पड़ता है।

पर्यावरण की सेहत बताता है कवक-शैवाल से मिलकर बना लाइकन

एक न दिखाई देने वाले कोरोनावायरस से जूझते हुए हम ये समझ सकते हैं कि इको सिस्टम को बनाए रखने में धरती पर मौजूद छोटे से छोटे जीवों-वनस्पतियों की बड़ी भूमिका है। पिथौरागढ़ के मुनस्यारी में बने लाइकन गार्डन में धरती के सबसे प्राचीन और सूक्ष्म वनस्पतियों में से एक लाइकन के बारे में बेहतर समझ हासिल की जा सकती है। उत्तराखण्ड में इसे झूला घाट या पथर के फूल भी कहा जाता है।

धरती पर अब डायनासोर नहीं रहे, लेकिन लाइकन उस समय से अब तक मौजूद है। उन्हें जगहों पर जहाँ प्रदूषण नहीं है। ये प्रदूषण मुक्त जगह का एक बायो इंडिकेटर भी है। धरती पर लाइकन की 20 हजार से अधिक प्रजातियां मौजूद हैं। भारत में 2,714 और उत्तराखण्ड में 600 प्रजातियां पायी जाती हैं। हाल ही में ये बताया गया कि कुमाऊं के मुनस्यारी, अस्कोट, बागेश्वर, पिथौरागढ़, राघनगर और नैनीताल में 45 पर्यावरणीयों और 13 प्रजातियों के लाइकन मौजूद हैं। मुनस्यारी को लाइकन का हॉटस्पॉट माना जाता है। अकेले मुनस्यारी और गोरी गंगा के पास करीब 150 लाइकन प्रजातियां मौजूद हैं। इसके अलावा नीति घाटी, चकराता के घने जंगल और बांज के जंगलों में भी लाइकन खूब मिलते हैं। इनका पाया जाना दर्शाता है कि जंगल की सेहत अच्छी है।

पर्वतीय क्षेत्रों में करीब तीन हजार मीटर की ऊँचाई तक वृक्ष मिलते हैं। 3 से 4 हजार मीटर तक नर्म घासों वाले बुग्याल मिलते हैं। 4 हजार मीटर की ऊँचाई से ऊपर कोई कोई वनस्पति नहीं होती, लेकिन लाइकन में वहाँ भी उग आने की क्षमता होती है। लाइकन, कवक और शैवाल से मिलकर बनी जैविक संरचना है। शैवाल फोटो-

सिंथेसिस प्रक्रिया से भोजन तैयार करता है और कवक उसकी रक्षा करता है। रंगरूप कवक की तरह होता है। पानी सहेजने के लिए इसमें कोई जड़ या तना नहीं होता। ये हवा में मौजूद पानी का इस्तेमाल करते हैं। पानी और सूरज की किण्णों से अपना भोजन तैयार करने वाले लाइकन अल्ट्रा वायलट किण्णों से सुरक्षा भी करते हैं। ये पेड़ की छाल, दीवार, पत्थर, छत, मिट्टी पर उग आते हैं। इस बेशकीमती झूला घास का अवैध व्यापार भी खूब होता है। हैंदराबाद की विरयानी के जायके का सीफ्रेट लाइकन ही है। रामनगर और टनकुर में हैंदराबाद के व्यापारी लाइकन खरीदने आते हैं। वहाँ, कन्नौज के इत्र उद्योग की खुशबू में भी लाइकन का ही असर है। चटक रंग वाले लाइकन प्राकृतिक रंग के रूप में भी इस्तेमाल किए जाते हैं। अल्ट्रा-वायलट किण्णों से बचाव की क्षमता के चलते त्वचा निखारने का दावा करने वाली क्रीम के कारोबार में भी लाइकन का इस्तेमाल होता है।

उत्तराखण्ड वन विभाग के रिसर्च विंग के मुख्य वन संरक्षक संजीव चतुर्वेदी बताते हैं कि वित्त वर्ष 2019-20 में रिसर्च एडवायजरी कमेटी की अनुमति के बाद लाइकन को संरक्षित करने के प्रोजेक्ट पर काम शुरू हुआ।

मुनस्यारी के पातालथोरे रिसर्च सर्कल में 1.5 हेक्टेअर क्षेत्र लाइकन गार्डन बसाया गया। इसका उद्देश्य लोगों में लाइकन की प्रजातियों के बारे में जागरूकता पैदा करना है। साथ ही इस पर अध्ययन के लिए रिसर्च सेंटर तैयार करना है। इसे स्थानीय लोगों की आजीविका से भी जोड़ा जा सकता है।

हमारे आसपास लाइकन उग रहे हैं तो समझिए पर्यावरण की सेहत अच्छी है। यदि नहीं तो हम प्रदूषणवाली हवा में सास ले रहे हैं।



रीसाइकिलिंग के नाम पर यूरोप के प्लास्टिक कचरे को एशिया में किया जा रहा है डंप

हाल ही में जारी एक शोध से पता चला है कि यूरोप से निर्यात किये गए 31 फीसदी प्लास्टिक कचरे को रिसाइकल नहीं किया जाता। जबकि उसे रिसाइकल करने के लिए ही निर्यात किया जाता है। शोधकर्ताओं ने पहली बार यूरोपियन यूनियन, ब्रिटेन, स्विट्जरलैंड और नॉर्वे से निर्यात किये गए प्लास्टिक कचरे की मात्रा का पता लगाया है, जो रीसाइकिलिंग के नाम पर समुद्र में फेंका जा रहा है। इसमें कोई शक नहीं कि दुनिया भर में यूरोपीय देशों ने कचरा प्रबंधन के लिए सबसे बेहतर बुनियादी ढांचे का विकास किया है। जोकि अपने आप में एक मिसाल है। पर इसके बावजूद यूरोप से करीब 46 फीसदी प्लास्टिक कचरे का निर्यात कर दिया जाता है। इस कचरे का एक बड़ा हिस्सा हजारों किलोमीटर दूर उन देशों को भेज दिया जाता है, जहाँ कचरा प्रबंधन के लिए पर्याप्त व्यवस्था ही नहीं है। इसमें से ज्यादातर देश दक्षिण पूर्व एशिया में स्थित हैं। इन देशों में पहले से ही घरेलू कचरे के निपटान का भारी बोझ है। ऐसे में यहाँ का वेस्ट मैनेजमेंट सिस्टम इस कचरे को रिसाइकल नहीं कर पाता। जिस बजह से उसे ऐसे ही समुद्रों में फेंक दिया जाता है। यह शोध साइटिफिक जर्नल

एनवायरनमेंटल इंटरनेशनल में प्रकाशित हुआ है। जिसमें 2011 के दौरान निर्यात किये गए उस कचरे का हिसाब लगाया है, जिस रीसाइकिलिंग के लिए निर्यात किया गया था। पर उसे रीसाइकिलिंग करने की जगह समुद्र में उसका निपटान कर दिया गया। शोधकर्ताओं ने तीन अलग-अलग परिदृश्यों के आधार पर इसकी गणना की है। जिसमें सबसे बेहतर स्थिति, औसत और सबसे खराब स्थिति के आधार पर गणना की गई है। इसके निष्कर्ष से पता चला है कि यूरोप से रिसाइकल के लिए निर्यात की गई करीब 1 से 1 फीसदी पॉलीइथिलीन अंत में समुद्रों में फेंक दी जाती है। जोकि करीब 32,115 से 180,558 टन के बराबर होती है। पॉलीइथिलीन यूरोप के साथ-साथ दुनियाभर में सबसे लोकप्रिय और आम प्लास्टिक है। यह एक तरह का पॉलिमर है, जो प्लास्टिक की पत्रियों, शैम्पू की बोतल, बच्चों के खिलौने और यहाँ तक कि बुलेट प्रूफ जैकेट बनाने में भी इस्तेमाल किया जाता है। इस शोध से पता चला है कि यूनाइटेड किंगडम, स्लोवेनिया और इटली जैसे देश भारी मात्रा में प्लास्टिक कचरे को यूरोप से बाहर निर्यात कर रहे हैं। जिसकी बजह से रिसाइकिल किया जा

सकने वाले प्लास्टिक कचरे एक एक बड़ा हिस्सा मलबे के रूप में समुद्रों में मिल रहा है। इस शोध के प्रमुख लेखक जॉर्ज बिशप ने बताया कि, इस शोध से पता चला है कि इस तरह और किस रास्ते से प्लास्टिक, कचरे के रूप में समुद्रों तक पहुंच रहा है। जिसकी बजह से समुद्री इकोसिस्टम दूषित हो रहा है। साथ ही इसके चलते तट के आसपास रहने वाले लोगों पर भी असर पड़ रहा है। शोधकर्ताओं ने इसके लिए इंटरनेशनल ट्रेड डाटा और कचरा उत्पन्न कर रहे देशों के बेस्ट मैनेजमेंट से जुड़े आंकड़ों का विश्लेषण किया है। साथ ही यूरोप से रिसाइकिल करने के लिए निर्यात किये गए पॉलीइथिलीन के आंकड़ों का भी अध्ययन किया है। इस शोध से जुड़े एक अन्य लेखक डेविड स्टाइल्स ने बताया कि चूंकि यूरोप के कई देश रीसाइकिलिंग के नाम पर कचरे की एक बड़ा मात्रा निर्यात कर देते हैं। जिसके बारे में सही-सही जानकारी उपलब्ध नहीं रहती है। ऐसे में इन देशों द्वारा जो अपने कचरे की रीसाइकिलिंग दर बताई जाती है, उसमें भी काफी अंतर हो सकता है। इस शोध से पता चला है कि रीसाइकिलिंग के नाम पर निर्यात किया गया 31 फीसदी कचरा कभी रिसाइकल नहीं होता।